Usefulness of yoga practice in personality development

(व्यक्तित्व के विकास में योग-साधना की उपादेयता)

Dr. Suman Rani

Head of Department, Teacher-in-Charge, Sanskrit Department

Haryana Central University,

Mahendragarh Email ID - sumanrani@gmail.com

DOI: 10.52984/ijomrc4304

Abstract

This study examines the ancient Indian practice of yoga, which involves controlling the fluctuations of the mind to achieve a state of deep meditation and self-realization. According to the Katha Upanishad, yoga is the state in which all sensory organs, the mind, and the intellect are completely calm and still. The Bhagavad Gita describes yoga as performing one's duties skillfully without attachment to the results and maintaining equanimity in all circumstances.

Yoga has two primary objectives: spiritual and practical. Spiritually, it involves controlling the senses and realizing the soul and the Supreme Being, leading to liberation from all sufferings and achieving ultimate bliss (moksha). Practically, it helps practitioners maintain equanimity in loss and gain, honor and dishonor, cold and heat, and other situations, while performing their duties without concern for the results.

Keywords: ***Yoga Samadhi, Mind Vrittis, Kathopanishad, Geeta, Duty Karma, Attainment of results, Soul God, Moksha***

भूमिका -

जब जीवात्मा अपने चित्त की वृत्तियों को रोक कर समाधिस्थ हो जाता है, तब अपने स्वरूप में स्थिर होकर परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। समाधि की इस अवस्था को ही योग कहा जाता है।[1] कठोपनिषद् में योग का लक्षण बताते हुए कहा गया है किः- जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि और इन्द्रियां पूर्णरूप से शान्त-स्थिर हो जाती हैं। इस अवस्था का नाम योग है।[2] गीता में कहा गया है कि कर्त्तव्य कर्मों को कुशलतापूर्वक = फल प्राप्ति के अधिकार को छोड़कर करना एवं प्रत्येक परिस्थिति में समान भाव रखना योग कहलाता है।[3]

[1](i) योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः । (योग दर्शन 1.2)
(ii) योगः समाधिः । (योग दर्शन व्यास भाष्य- 1.1)

[2]यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।।
तां योगामिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।। (कठोपनिषद् 6.10.11)

[3]योगः कर्मसु कौशलम् । (गीता 2.50)
समत्वं योग उच्यते । (गीता 2.48)

इस प्रकार योग के दो उद्देश्य हैं एक पारमार्थिक = जब व्यक्ति इन्द्रियों को वश में करके आत्मा एवं परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखों से मुक्त होकर पूर्ण आनन्द की अवस्था (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। दूसरा उद्देश्य है व्यवहारिक = योगाभ्यासी व्यक्ति, हानि-लाभ, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी आदि परिस्थितयों में समान रूप से कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए फल प्राप्ति के अधिकार की चिन्ता से मुक्त रहता है।

सारांश –

सार रूप में कहें तो योग आध्यात्मिक अनुशासन एवं अत्यन्त सूक्ष्म विज्ञान पर आधारित वेदों से प्राप्त ऐसा सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सार्वजनिक ज्ञान है, जो शरीर,मन, बुद्धि और आत्मा का सामञ्जस्य स्थापित करता है। वैदिक योग परम्परा के अनुसारयोग का अभ्यास व्यक्तिगत चेतना को सार्वभौमिक चेतना के साथ एकाकार कर देता है।आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है वह परमाणु काप्रकटीकरणमात्र है। जिसने योग के माध्यम से इस अस्तित्व के एकत्व का अनुभव प्राप्त कर लिया है,उसे योगी कहा जाता है। योगी पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त होकर, आत्म-साक्षात् करके,मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। इसे ही मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य या मोक्ष कहा जाता है।

योग पर किये गये आधुनिक अनुसन्धानों से यह प्रमाणित हुआ है कि योग मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिये बहुत ही उपयोगी है। यह मानसिक चिन्ता, अवसाद, निराशा आदि को दूर करके शारीरिक रोग प्रतिरोधक क्षमता को आश्चर्यजनक रूप से बढाता है। योग अनेक प्रकार के असाध्य रोगों के उपचार में भी बहुत सहायक है।

योग शब्द की व्युत्पत्तिः-

महर्षि पाणिनि के अनुसार योग शब्द 'युज्' धातु से 'घञ्' लगाकर बनाया जाता है। यह धातु महर्षि पाणिनि ने तीन अर्थों में प्रयुक्त की है 'युज् समाधौ' = चित्त को स्थिर करके आत्मस्थ होकर समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेना, 'युजिर् योगे' = जुड़ना, मिलाप करना, एकत्र करना, 'युज् संयमने' संयत करना, बान्धना, वश में करना। योग दर्शन के प्रथम व्याख्याकार महर्षि व्यास योग का अर्थ 'समाधि' करते हैं - "योगः समाधिः स च सार्वभौमचित्तस्य धर्मः" (योग दर्शन 1.1)। इस प्रकार योग दर्शन के सन्दर्भ में योग शब्द समाधि अर्थ वाली 'युज्' धातु से 'घञ्' लगाकर बनेगा।

योग की परम्परा -

वेदों में सूत्र रूप में समस्त सत्य विद्याओं का उल्लेख है। योग का वर्णन भी चारों वेदों में मूल रूप में मिलता है। विश्व के सभी विद्वान् एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि वेद विश्व के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार, ब्रह्माण्डकी रचना के समय, सर्वशक्तिमान् भगवान् ने मानव कल्याण के लिए अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक चार ऋषियों को ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान दिया था। इस प्रकार योग की परम्परा भी सृष्टि की रचना के समय से ही विद्यमान् है।

ऋग्वेद 1.18.7 का प्रस्तुत मन्त्र द्रष्टव्य है-

यस्माद् ऋते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।

स धीनां योगमिन्वति ।।

अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वव्यापक ईश्वर के बिना कोई भी यज्ञ कार्य, यहाँ तक कि सृष्टि

निर्माण रूप यज्ञ भी पूर्ण नहीं हो सकता। वह ईश्वर योग के माध्यम से ध्यानावस्थित साधक की बुद्धि में प्रकाशित होता है।

सा घा नो योग आ भुवत्स राय स पुरन्ध्याम ।

गमद् वाजेभिरा स नः ।। [4]

अर्थात् ध्यान करने से ब्रह्माण्ड के रहस्यों का उद्घाटन होता है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्र विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।

विहोत्रा दधे वायुनाविदेक इन्महही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ [5]

युञ्जते = योगाभ्यास द्वारा मनः मन को ईश्वर भक्ति में स्थिर करें, उत= और, युञ्जते = योगाभ्यास द्वारा धियः बुद्धि को ईश्वर भक्ति में स्थिर करें .....।

युञ्जानः प्रथमं मनस् तत्त्वाय सविता धियम् ।

अग्नेर् ज्योतिर् निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ [6]

स एवायं मया तेऽ-अद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽ-असि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतद् उत्तमम् ।। [7]

महाभारत के पश्चात् योग की परम्परा एक बार फिर विलुप्त हो गई और हिमालय की कन्दराओं में तपस्या रत ऋषि मुनियों तक ही सीमित होकर रह गई। लोक में योग के नाम पर अनेक प्रकार के वाद चलने लगे। तब आधुनिक युग के महान् ऋषि, सामाजिक समरसता के प्रचारक, वेदों के उद्धारक, मानव मात्र को समान मानने वाले, दलितों को गले लगाने वाले, विधवा विवाह के पोषक, सभी प्रकार के पाखण्डों का खण्डन कर के, वेद प्रतिपादित मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करने वाले, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जहाँ वेदों का प्रचार किया, वहीं ऋषियों के आर्ष ग्रन्थों का प्रचार और प्रसार भी किया। इसी परम्परा में उन्होंने महर्षि पतञ्जलि द्वारा लिखित योग दर्शन का प्रचार और प्रसार भी जन सामान्य में किया। महर्षि दयानन्द के बाद उनके अनुयाइयों ने योग दर्शन के सिद्धान्तों के प्रचार प्रसार में अभूतपूर्व योगदान दिया। वर्तमान में इसका उदाहरण योगऋषि स्वामी

रामदेव जी हैं। जिन्होंने गुरुकुलीय परम्परा में महर्षि दयानन्द के साहित्य का अध्ययन करके, महर्षि पतञ्जलि के योग सिद्धान्तों को सम्पूर्ण विश्व में फैला दिया। इसी के परिणाम 27 सितम्बर 2014 को संयुक्त राष्ट्र महासभा के 69 वें सत्र में भारत के प्रधानमन्त्री माननीय श्री नरेन्द्र मोदी जी ने विश्व योग दिवस का प्रस्ताव रखा। 11 दिसम्बर 2014 को संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के 193 सदस्यों ने सर्वसम्मति से 21 जून को अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस मनाने का प्रस्ताव पारित किया।

भारतीय परम्परा के अनुसार आदि योगी शिव को माना जाता है। उन्होंने हजारों साल पहले हिमालय में "कान्ति" नामक झील के किनारे सात ऋषियों को योग का ज्ञान दिया था। इन सात ऋषियों ने इस योग के ज्ञान को एशिया, मध्य-पूर्वी देशों, उत्तरी अफ्रीका दक्षिण अमेरिका सहित दुनिया में फैलाया। शिव हिमालय क्षेत्र के राजा थे। जिसके राज्य में भगीरथ ने गङ्गा को निकाला था, जिसका आलङ्कारिक वर्णन भारतीय साहित्य में मिलता है।

यहाँ उदाहरण के लिये कुछ ही वेद मन्त्रों का उल्लेख किया गया है। वेदों में बहुत ही विस्तार पूर्वक योग के सिद्धान्तों का वर्णन है। इस विषय की विस्तृत जानकारी के लिये "वेदों में योग विद्या" लेखक- स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती को पढ़ें।

योग के सिद्धान्तों को ब्राह्मण साहित्य, आरण्यक साहित्य और उपनिषद् साहित्य आदि वेदों के सबसे

[4] **-ऋग्वेद** 1.5.3

[5] **-ऋग्वेद** 5.81.1

[6] **- यजुर्वेद** 11.1

[7] **-श्रीमद् भगवद् गीता** 4.1-3

प्राचीन व्याख्यात्मक ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित किया गया है।यथा-

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम् ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम् ।

अप्रमतस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।। [8]

अर्थात् जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि स्थिर होकर शान्त हो जाती हैं, इसी को योग कहा जाता है।

योग के इतिहास की एक झलक महाभारत के भीष्म पर्व में वर्णित श्रीमद्भगवद्गीता (4.1-3) में मिलती है, जो पाँच हजार साल पहले लिखी गई थी। इसके अनुसार मानव सृष्टि के प्रारम्भ में विवस्वान् को योग का ज्ञान ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ था। विवस्वान् ने मनु को योग का उपदेश दिया। मनु ने अपनी सन्तान इक्ष्वाकु को इस योग का उपदेश दिया था। इस प्रकार योग की परम्परा उत्तरोत्तर चलती रही। महाराजा मनु की परम्परा में ही मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र जी और महात्मा बुद्ध हुए। एक समय ऐसा भी आया जब यह योग की परम्परा लुप्त हो गई। योगेश्वर श्री कृष्ण जी ने युद्ध के मैदान में अर्जुन को इस योग के सिद्धान्तों को विस्तार से बताया था।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम् ।

विवस्वान् मनवे प्राह मनुर् इक्ष्वाकवेऽ-अब्रवीत् ॥

एवं परम्परा प्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तपः ।।[9]

महर्षि पतंजलि ने योग-साधना का वर्णन अपने योगदर्शन में किया है। उन्होंने योग-साधना को ईश्वर प्राप्ति का एक क्रियात्मक पद स्वीकार किया है। जैसे कि नाम से ही द्योतित होता है कि (योग-साधना) साधना के लिए जुड़ना अर्थात् ईश्वर को जानने के लिए, उस परम सत्ता के साथ जुड़ना ही योग साधना कहलाता है इस विधि के द्वारा हम अपने शरीर व मन को यम, नियम, आसन और प्राणायाम के माध्यम शुद्ध या पवित्र कर सकते है। यदि हम ऐसा करने में सफल हो जाते है तो फिर हमारे अन्दर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति विकसित हो जाती है जिसके द्वारा मन को ब्राह्यविषयों से हटाकर अन्दर की तरफ आत्मा पर केन्द्रित किया जाता है। इस अन्तर्मुखी योग विधि को प्रत्याहार कहा जाता है। इसके उपरान्त, मन को किसी एक निर्दिष्ट स्थान पर केंद्रित किया जाता है। इसको धारणा कहा जाता है।धारणा की पुष्टि के बाद हम अपने मन को विषयों से रहित बनाते हुए हृदय, भ्रमध्य या सहस्रार चक्र में से किसी एक चक्र पर अपना ध्यान लगाते हुए अपने अन्दर विद्यमान आत्मज्योति के दर्शन का प्रयत्न किया जाता है।इस आत्मज्योति के दर्शन के अभ्यास को ही ध्यान कहा जाता है। इसके बाद की स्थिति को समाधि के नाम से जाना जाता है। इसमें साधक अपनी आत्मा कोपरमात्मा में लीन करके ईश्वर से तादात्म्य की अनुभूति करता है।

साधक को समाधि की स्थिति बड़े ही परिश्रमके बाद प्राप्त होती है। समाधि के प्राप्त हो जाने पर साधक की अनेक प्रकार की दिव्य शक्तियाँ का ज्ञान हो जाता है। ऐसा होने के पश्चात् ही ऋतम्भरा प्रज्ञा नामक दिव्य प्रतिभा जागृत हो जाती है। इन सभी स्थितियों के पश्चात् साधक को दिव्य ज्ञान, दिव्य शक्तियाँ, अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त हो जाती है।

साधना स्थल -

किसी भी कार्य को करने के लिए उचित स्थान की अनिवार्यता होती है। योग-साधना के लिए भी एक उचित

[8] -कठोपनिषद् 6.10-11

[9]साधना और सिद्धि, अध्याय 1 से 7

स्थल की महती आवश्यकता होती है। इसके लिए ऐसा स्थल होना चाहिए जो शान्त, एकान्त व बाहरी शोर-शराबे से रहित हो। अतः हमसमझ सकते है कि प्राचीन योगी, मुनि, साधक इत्यादि क्यों पर्वतों पर ही जाकर साधना करते थे इसके अतिरिक्त नदियों के संगम, समुद्र का किनारा, झरनों के समीप का स्थान भी उपयुक्त होता है। इसी के सन्दर्भ में ऋग्वेद व यजुर्वेद में कहा भी गया है कि साधना के लिए पर्वतों की गुफाएं आदि के साथ-2 नदियों के संगम स्थल उपयुक्त है। क्योंकि यहाँ पर साधक अपने चित्त को शान्त करके मनन-चिन्तन करते हुए ध्यान लगा सकते है। ऐसा करने से बुद्धि शुद्ध व परिष्कृत होती है। ऋग्वेद व यजुर्वेद में भी कहा गया है कि उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।[10] धिया विप्रो अजायत।[11] इस प्रकार से बताया गया है कि साधक ज्ञानी (विप्र), चिन्तक व मेधावी बन जाता है।

प्रक्रिया -

योग साधना की प्रक्रिया एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। यह एक पर्वत पर चढ़ने के समान कठिन प्रक्रिया है। इसके लिए लगातार उत्साह, श्रद्धा व निष्ठा के साथ-साथ आत्मविश्वास की परम आवश्यकता होती है। योग साधना में एक के बाद एक कदम क्रम से आगे बढ़ाना होता है जैसे -योगसाधना

(1) आसन, प्राणायाम

कार्य- शरीर का शुद्धीकरण

(2) प्रत्याहार, धारणा

कार्य- मन का शुद्धीकरण

(3) ध्यान, समाधि

कार्य- मन को ईश्वर केन्द्रीत करना

ऋग्वेद में भी साधना के बारे में स्पष्ट कहा गया है कि इसमें धीरे-2 एक पर्वत की चोटी पर पहुंचा जाता है तथा वहां पहुंचने के बाद इससे ऊपर या आगे एक उच्च चोटी दिखाई देती है। इस तरह से एक उच्च चोटी को पार करने के बाद दूसरी उच्च चोटि दिखाई देगी। इस प्रकार इस योग-साधना रूपी चड़ाई का कहीं अन्त नहीं है।

इसमें जितना आगे बढ़ते जायेंगे उतनी ही दिव्य-शक्तियां व सिद्धियां साधक को प्राप्त होती जायेंगी। वहीं पर आगे बताया गया है कि इन सिद्धियां व शक्तियों को प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या या प्रयत्न करने पड़ते है। वह परमसत्ता ईश्वर या परमात्मा साधक के सभी प्रयत्नों का साक्षी रहता है और इसमें समय आने पर ईश्वर साधक की सभी मनोकामनाएं पूर्ण कर देते है।[12]

मन व बुद्धि का समन्वय -

ऋग्वेद व यजुर्वेद के मन्त्रों में आत्मज्ञान के लिए मन व बुद्धि के समन्वय पर बल दिया गया है। मन्त्र युञ्जते मन उत युञ्जते धियः।[13]में बताया गया है कि विद्वान् लोग परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने मन व बुद्धि का समन्वित करते हैं। इन दोनों के समन्वय के बिना आत्मज्ञान असम्भव है।

मन के कार्य

बुद्धि के कार्य

संकल्प-विकल्प,कर्मठता, प्रेरेकता

निश्चय करना, मार्गदर्शन करना

विचार करना, क्रियाशीलता

[10]ऋग्वेद- 8.3.28

[11]यजुर्वेद-26.15

[12]यत् सानोः सानुमारुहद्..... यूथेन वृष्णिरेजति।

[13]ऋग्वेद- 5.81.1, यजुर्वेद- 5.14

इस प्रकार मन की चिन्तन शक्ति व बुद्धि की निश्चयात्मक शक्ति दोनों मिलकर ही साधक को श्रेय मार्ग तक पहुंचाती है। साधना का अर्थ है आत्मज्ञान करना। इसी आत्मज्ञान के द्वारा साधक को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। व बुद्धि उस साधना रूपी कर्म के मार्गदर्शन करती है। इस तरह से ये दोनों मिलकर साधक को आत्मज्ञान कराने में समर्थ होते है।

मन व हृदय का समन्वय –

अथर्ववेद में इसके बारे में मन्त्र में स्पष्ट लिखा है- (संज्ञपनं के मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।[14])है कि मन और हृदय के समन्वय से ही पवित्र ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

मन के कार्य

हृदय के कार्य

(संकल्प, विचार, सक्रियता) (संवेदना, संयोग, सहानुभूति, ममता, राग-द्वेष इत्यादि)

इन दोनों के समन्वय से ही विचारों में सहानुभूति, प्रेम आदि का मिश्रण बनता है। इसी के द्वारा विचारों में पवित्रता आ जाती है। ऐश्वर्य का सात्विक रूप शुद्ध विचारों से ही प्राप्त होता है। इसी सात्विक धारा से ही सत्यनिष्ठा, शुद्धता व तपस्या से भरपूर जीवन विकसित होता है।

इस मंत्र मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु।[15] में बताया गया है कि - सामाजिक उन्नति की भावना का तभी हो सकती है जब मन व हृदय में समन्वय हो। इन दोनों की एकता से ही सहानुभूति व परोपकार इत्यादि की भावनाएं विकसित होती है जिससे समाज का भला सम्भव हो सकता है। ऐसा होने पर ही लोगों में आपसी भाईचारा बढ़ता है तथा सभी मिलकर उन्नत समाज के निर्माण में सहायक बनते हैं।

ऋग्वेद में परमात्मा के पतंग सुपर्व, व्यापक बताया गया है- (पतंगम्...हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।) है कि साधक मन व हृदय को समचित करके उस ज्योतिरूप पतंग का दर्शन करते है।[16]इसी प्रकार अथर्ववेद में कहा गया हैकि (मूर्धानमस्य संसीव्य... अथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्क दर्ध्वः प्रैरयत्.।।)अथर्वा अर्थात् योगी या साधक अपने हृदय और मूर्धा (मन व बुद्धि) को समन्वित करके उसे अपने मस्तिष्क के ऊपरी भाग सहस्रार चक्र में स्थापित करते हैं।[17] इससे ज्ञात होता है कि मन ज्ञानतत्व का प्रतिनिधि है, यही मनन-चिन्तन का साधन भी है वही पर हृदय प्रेम व श्रद्धा व भक्ति का प्रेरक है।

इस प्रकार से ज्ञानतत्त्व व भक्तित्व दोनों के मेल से ही आत्मदर्शन या ज्योतिदर्शन होता है।

साधना से आत्मदर्शन के ज्ञान में निरन्तर वृद्धि या उन्नति होती रहती है। इसी सन्दर्भ में यजुर्वेद में भी कहा गया है कि -

पृथिव्या अहम् उदन्तरिक्षम्.।

स्वर्ज्योतिरगामहम्।[18]

साधना के द्वारा साधक पहले भूमण्डल से अन्तरिक्ष-मण्डल में पहुंचता है। तत्पश्चात् अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुंचता है। उसके बाद साधक इन सभी को पार करके ज्योतिर्मण्डल में प्रविष्ट करता है। ये तीनों ही मण्डल हमारे शरीर में ही विद्यमान है।

शरीर के तीन मण्डल -

[14]अथर्ववेद- 9.100.3

[15]वही -6.73.2

[16]ऋग्वेद- 10.177.1

[17]अथर्ववेद 10.2.26

[18]यजुर्वेद – 17.67

1. अन्तरिक्ष मण्डल (शरीर कण्ठ से नीचे का भाग)
2. द्युलोक (द्युमण्डल) कण्ठ से ऊपर शिरोभाग, सहस्रार चक्र जहां है
3. ज्योतिर्मण्डल (शिरोभाग में सबसे ऊपरी भाग नाक) यहीं पर आत्मज्योति का वास,

अपर नाक स्वर्ग या नाक या यह लोक दिव्य शक्तियों का वास।

मनन-चिन्तन -

मन का प्रमुख कार्य है मनन-चिन्तन करना है। इसके बारे में ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि मनुर्भव, जनया दैव्यं जनम्।[19]

मननशील व चिन्तनशील रहना चाहिए, जन-जन में दिव्यज्योति का प्रसार करना चाहिए।

आत्मज्ञान व आत्मदर्शन के लिए मनन और चिन्तन का होना अत्यन्त अनिवार्य है। मननशील होने के कारण ही व्यक्ति को मानव, मनुष्य व मनुज की संज्ञा दी गई है। जितना अधिक साधक आत्ममनन व चिन्तन करेगा साधना के क्षेत्र में उतना हि आत्मिक उन्नति को प्राप्त करेगा। इसी चिन्तन शक्ति के द्वारा ही प्रज्ञा, मेधा, आन्तरिक ज्योति व प्रतिभा का विकास होता है। इसी के कारण ही साधक को तत्त्वदर्शी, चिन्तक, ऋषि, मुनि इत्यादि शब्दों या नामों से जाना जाता है।

आत्मसंयम -

साधना के लिए साधक को चाहिए कि वो पूर्णतया संयमी रहे। वह जितेन्द्रय हो। इसी सन्दर्भ में ऋग्वेद में कहा गया है कि -

अक्षानहो नह्यतनोत सोम्याः।[20]

साधक अपनी इन्द्रियों को संयम में रखें। इसी सन्दर्भ में यजुर्वेद में भी बताया गया है कि -भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः।[21] कान से भद्र सुनो, आंख से भद्र देखों इत्यादि आदेश किए गए है।

मनुस्मृति में भी वर्णन मिलता है-

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।

संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।।[22]

कि जो व्यक्ति बाह्य विषयों में आसक्त रहता है वह अपने कर्तव्य रूपी पथ से विमुख हो जाता है। और इस प्रकार से वह दोषी बन जाता है। जो साधक अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए जितेन्द्रिय हो जाते है वो ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं। अतः योग साधना में साधक को जितेन्द्रिय होना अत्यावश्यक है।

साधना के तत्त्व -

योग साधना करने से पहले ही साधना के तत्त्व क्या-2 होंगे। इनका ज्ञान होना परमावश्यक है। ऋग्वेद में 9.113.1 से 11 तक के मन्त्रों में साधना के तत्त्व के बारे में वर्णन मिलता है और इसके साथ-2 स्वर्ग, अमरत्व, मोक्ष आदि का भी वर्णन है। साधना के प्रमुख तत्त्व[23]ऋत, सत्य, श्रद्धा, तप।

इन सभी तत्त्वों को धारण करने वाले साधक ज्योतिर्मय लोक के अधिकारी बनते है।[24]इस लोक में सदा ज्योति आनन्द व प्रकाश रहता है। ऋत व सत्य का प्रायः एक ही अर्थ होता है - सत्य। परन्तु यहां ऋक्. के मन्त्र 9.113.4 में दोनों का अर्थ पृथक्-पृथक् बताया

[19]ऋग्वेद – 10.53.6
[20]ऋग्वेद – 10.53.7
[21]यजुर्वेद – 25.21
[22]मनुस्मृति 2.93
[23]ऋग्वेद 9.113.2 – ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः।
[24]ऋग्. – 9.113.4 – ऋतं वदन्, सत्यं वदन्, श्रद्धां वदन्.।

गया है लेकिन ऋत व सत्य में थोड़ा भेद है। ऋत सत्य की समष्टि का बोधक है तथा सत्य व्यष्टि का बोधक है। ऋत का क्षेत्र सत्य के क्षेत्र से व्यापक है। ऋत में सत्य की सभी विधाएं है जैसे चिन्तन-मनन में सत्य निष्ठता, व्यवहार, मन वचन कर्म में सत्यनिष्ठता और सत्य केवल सत्य व्यवहार के लिए है। ऋत व सत्य बोलने से आत्मा की शुद्धि होती है तथा साधक को सात्विकता प्राप्त होती है। हृदय से किसी भी बात को मानना श्रद्धा कहलाता है। श्रद्धा के अन्तर हृदय की भावना व निष्ठा दोनों निहित होती है। तप शरीर व मन की पवित्रता के लिए करना चाहिए। जब शरीर व मन दोनों में पवित्रता होगी तभी साधना में सफलता मिल सकती है।

प्राणायाम -

प्राणायाम का भी बहुत महत्त्व योगसाधना के लिए बताया गया है। बल्कि बैगर प्राणायाम के तो योगसाधना की नहीं जा सकती है। यह कहना अनुचित नहीं होगा। प्राणायाम एक प्रकार की विधि है जिसके द्वारा शरीर व मन शुद्ध किया जाता है। इसके द्वारा शरीर के सभी दोषों को शरीर से बाहर किया जाता है। प्राण एक विश्वव्यापिनी शक्ति होने के कारण सम्पूर्ण संसार को ऊर्जा देती है। प्राणायाम के द्वारा उस प्राण रूपी विश्वव्यापिनी शक्ति से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। प्राण व प्राणायाम दोनों का विस्तृत उल्लेख हमारे वेदों में प्राप्त होता है। अथर्ववेद में प्राणायाम से लम्बी आयु व जरामृत्यु का उल्लेख भी मिलता है - कृणोमि ते प्राणापानौ, जरा मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।[25]

ऋग्वेद में भी वायु को अमृत का खजाना कहा गया है तथा यह एक ओषधि के रूप में कार्य करता है शरीर के दोषों को दूर करने में सहायक है व हमारे हृदय को पुष्ट करता है। जैसे हमारे पिता, भाई व मित्र हमारे हितेषी होते है उसी प्रकार यह प्राण (वायु) भी हमारी हितेषी है।[26]

इस प्राण के दो भेद है - प्राण - अपान ।

प्राणायाम में मुख्य रूप से दो क्रियाएं होती है - प्राणायाम - पूरक क्रिया, रेचक क्रिया।

पूरक

जिसमें सांस को अन्दर लेना होता है। इससे बाहरी आक्सीजन शरीर के अन्दर ली जाती है। जिससे हमारे फेफड़े को शुद्ध वायु मिलती है।

रेचक

इसमें अन्दर की सांस को बाहर निकाना जाता है। जिससे अन्दर की दूषित कार्बन-डाई-ऑक्साइड वायु को शरीर से बाहर निकालते है। ऐसा करने से शरीर शुद्ध होता है।

इसी सन्दर्भ में अथर्ववेद में कहा भी गया है कि -दक्षं ते अन्य वातु व्यन्यो वायु यद् रपः।[27]प्राण वायु शरीर को शक्ति देती है व दूसरी और अपान वायु शरीर के दोषों को बाहर निकालती है।

मनुस्मृति में इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है कि-

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।[28]

जिस प्रकार आग में डालते से लोहा आदि धातुओं का मल जल जाता है और वह निर्मल हो जाती है ठीक वैसे ही प्राणायाम करने से शरीर के सारे मल एवं दोष जलकर

[25]अथर्ववेद – 8.2.11

[26]ऋग्. वात आ वातु भेषजम्.....। 10.186.1 से 3 तक

[27]अथर्ववेद- 4.13.2

[28]मनुस्मृति- 6.71

नष्ट हो जाते है। इस प्रकार प्राणायाम से व्यक्ति हमेशा स्वस्थ रहता है।

योगदर्शन के व्यास मत्स्य में भी इसके महत्त्व के बारे उल्लेख है कि -

तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानाम्, दीप्तिश्च ज्ञानस्य।[29]

प्राणायाम से बड़ा कोई भी तप नहीं है, इससे दो लाभ होते है-

1. शरीर के सभी मल (रोग) नष्ट हो जाते है।
2. ज्ञानरूपी ज्योति प्रज्वलित हो जाती है।

अतः साधक को नियमित रूप से प्राणायाम करना चाहिए।

ऋतम्भरा प्रज्ञा

बुद्धि का परिष्कृत रूप ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाता है। सुद्ध बुद्धि को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा जा सकता है। उच्च साधना से साधक ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त कर सकता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करने के बाद साधक स्थितप्रज्ञ कहलाता है। इसको प्राप्त करने के बाद सादक सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्तों का वास्तविक स्वरूप को समझ सकता है। इस प्रकार का ज्ञान होने से सब प्रकार की समस्याओं का समाधान साधक को पता होता है इसके द्वारा साधक प्रृति व पुरुष का स्पष्ट भेद कर पाता है। यह प्रज्ञा प्राप्त होने के बाद साधक जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसके बारे में ऋग्वेद में भी वर्णन मिलता है। मन्त्र में ऋषि कहता है कि मैंने परमपिता परमात्मा की कृपा से ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त कर लिया है और अब मैं सूर्य के समान तेजस्वी हो गया हूँ-

अहमिद् हि पितुष्परि मेधामृतस्य जर्गभ।

अहं सूर्य इवाजनि।[30]

योगदर्शन के अनुसार निर्विचार समाधि से साधक को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है -

ऋतम्भरा प्रज्ञा[31]इसमें स्थूल से स्थूल व सूक्ष्म से सूक्ष्म सभी पदार्थों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान साधक हो जाता है। इसी ज्ञान के आधार पर योगी, महर्षि इत्यादि साधक लोक-लोकान्तर, सूर्य, चन्द्र, ग्रह इत्यादि के बारे में अपने विचार प्रकट करते हैं। यजुर्वेद में भी ऋषि का खथन है- अहं सूर्यमनुभयतो ददर्श।[32]अर्थात् मैंने सीर्य को सामने व पीछे दोनों ओर से देखा है। आज तक विश्व का कोई भी वैज्ञानिक सीर्य के पिछले भाग का चित्र नहीं ले पाया है और न उसके बारे में कोई स्पष्ट सूचना दे पाया है।

विपश्यना -

विपश्यना प्राचीन भारतीय योग-साधना की एक विधि है। यह विधि अभी भी बुद्धों में प्रचलन में है। ऋग्वेद में भी इस विधि के बारे में उल्लेख मिलता है -यो विश्वानि विपश्यति भुवना सं च पश्यति।[33]इस मन्त्र में बताया गया है कि वह अग्नि स्वरूप परमात्मा अब जीव-जगत् को और सारे लोकों को देखता है। ऐसा परम पिता परमात्मा हमें सभी दुःखों से मुक्त करें। इस विधि को गौतम बुद्ध ने अपनाया था। विपश्यना शब्द है वि+दृश् (पश्य) धातु से बना है। जिसका अर्थ है जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही देखना, उसके मूल रूप को देखना व समझना। अर्थात् विशेष रूप से देखना इसका अर्थ हुआ।

[29]योगदर्शन-2.52 व्यासभाष्य
[30]ऋग्. – 8.6.10
[31]योगदर्शन – 1.48
[32]यजुर्वेद – 8.9
[33]ऋग्. 10.187.4

इस विधि में आत्मनिरीक्षण मूल तत्त्व होता है। क्योंकि यह कार्य आत्म-निरीक्षण से ही सम्भव है। इस विधि में प्रारम्भ में अपने सांसों पर ध्यान दिया जाता है। इसका पूर्व अभ्यास होने पर अन्तर्दर्शन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

निष्कर्ष –

जीवन को सफल और सार्थक बनाने के अनेक उपाय लोगों में प्रचलित हैं। उनमें से एक सबसे आसान उपाय है योगाभ्यास। जीवन को सफल और सार्थक बनाने के अनेक उपाय लोगों में प्रचलित हैं। उनमें से एक सबसे आसान उपाय है योगाभ्यास। व्यायाम या इसका संशोधित रूप योग प्राचीन काल से ही लोगों में प्रचलित रहा है। इस योग के माध्यम से ऋषियों ने आत्मा को परमात्मा से जोड़ने का कार्य किया है। ऋषियों ने परिभाषित किया है कि जिस साधन से आत्मा सिद्धि और मोक्ष प्राप्त करती है उसे योग कहते हैं। योग आत्म-साक्षात्कार और आंतरिक प्रेरणा (आत्मा की आवाज) के माध्यम से किया जाने वाला कार्य है। योग का शाब्दिक अर्थ है मानसिक वृत्तियों का निरोध। इसका अर्थ है कि मन के सभी अनावश्यक विचारों को रोककर मन को इच्छित लक्ष्य और प्राकृतिक वस्तुओं पर केंद्रित करना, उनके वास्तविक स्वरूप को जानना और ईश्वर का साक्षात्कार करना ही योग है। आज के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जब हमारी जीवनशैली अनेक कारणों से असंतुलित हो गई है तो उसे सही रास्ते पर लाने में योगाभ्यास बहुत जरूरी है। योगाभ्यास के माध्यम से हम अपने जीवन में संतुलन बनाकर अनेक समस्याओं से मुक्ति पा सकते हैं। इस संबंध में यम और नचिकेता के बीच संवाद बहुत महत्व रखता है। यम नचिकेता को सभी भौतिक वस्तुओं का वरदान देकर उससे मुक्ति चाहते थे, लेकिन नचिकेता के बाल मन ने इसे स्वीकार नहीं किया और वह कहने लगा- 'मुझे वह ज्ञान दीजिए, जिसके श्रवण से मैं अमरत्व प्राप्त कर सकूं। मुझे दिव्य तत्व ज्ञान दीजिए।' अंत में यम ने नचिकेता को तत्व ज्ञान दे दिया। हमें अपने जीवन में भी इस तत्व ज्ञान को प्राप्त करने का लक्ष्य पूरा करना होगा। योग साधना के माध्यम से अपने विचारों पर नियंत्रण करके हम इसे आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। जैसे ही हमारे विचार अध्यात्म की ओर बढ़ेंगे, हम भौतिकवाद की आसक्ति से मुक्त हो जाएंगे। यदि ऐसा हुआ, तो हमारे जीवन की समस्याएं हल हो जाएंगी। ऐसा इसलिए क्योंकि योग से मन शांत होते ही मन में ईश्वर का स्मरण होने लगेगा। फिर इस सुमिरन से हमारे मन की आसक्ति मिट जाएगी और हमारी जीवनशैली पूरी तरह बदल जाएगी। भगवान हमें और हमारे सभी पिछले अपराधों को क्षमा कर देंगे और हमें अपना बना लेंगे। हमें और क्या चाहिए? यदि इतना कर लिया जाए तो जीवन पूर्ण हो जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वैदिकदर्शन, डॉ. कपिल देव द्विवेदी, विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर (भदोही), द्वितीय संस्करण 2006।
2. वैदिक मनोविज्ञान, डॉ. कपिल देव द्विवेदी, विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर (भदोही)।
3. वेदों में विज्ञान डॉ. कपिल देव द्विवेदी
4. वेदों में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिक्षाशास्त्र, डॉ. कपिल देव द्विवेदी
5. आत्मविज्ञानम् (संस्कृत महाकाव्य) डॉ. कपिल देव द्विवेदी
6. मनुस्मृति- सीताराख भट्ट, डीसीजन सागर प्रेस,बम्बई, 1946

7. ऋग्वेद- सायण भाष्य, वैदिक संस्थान मंडल, पूना, 1933-46

8. यजुर्वेद- महीधर उव्वट, मोतीलाल दिलली, 1978।

9. अथर्ववेद सुबोधभाष्य-श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, पारडी, 1958-60

10. व्यासभाष्य, हरीहरण्य कृत्य, नोएडा।

11. पाण्डेय, रामशक्लः शिक्षा मनोविज्ञान, आर लाल. बुक डिपो, मेरत 2003

12. राष्ट्रीय शिक्षा नीति, मानव संसाधन विकास मंत्रालय नई दिल्ली, 1986

13. सरीन एवं सरीनः शैक्षिक अनुसंधान विधियों, अग्रवाल पब्लिशन्स, आगर, 2007-08

14. सिंह, कृष्णबीर शोध समीक्षा और मूल्याकन इण्टरनेशनल रिसर्च जनरल जयपुर 2008

15. सक्सेना, निर्मलः शैक्षिक प्रौद्योगिकी एवं कक्षा कक्ष प्रवन्ध, मलिक एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, जयपुर, 2007

16. शर्मा के के. शर्मा प्रमा. चतुर्वेदी सुधा, गर्ग ओपी: शिक्षा शब्दकोष, स्वाति पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2005

17. शर्मा, आर. ए., शिक्षा अनुसंधान, सूर्या पब्लिकेशन्स, मेरठ, 2004

18. शर्मा, आर ए: शिक्षा अनुसंधान, सूर्या पब्लिकेशन्स, मेरठ, 2004

19. जयदयाल गोएंका "महाभारत" गीताप्रेस गोरखपुर, प्रकाशन- २०२०.

20. "विष्णुपुराण" गीताप्रेस गोरखपुर, प्रकाशन-२०१४

21. "श्रीमद्भगवद्गीता" पण्डित दामोदर सतावलेकर, पुरुषार्थ बोधिनी भाष्य टीका

22. टेक्स्ट विथ शंकराज, "श्रीमद्भगवद्गीता कमेण्ट्री" गीताप्रेस गोरखपुर.

23. महाभारत- १६ वाल्यूम, चित्रशाला प्रेस पूना १९३०.

24. "श्रीमद्भगवद्गीता" विच रामानुज कमेण्ट्री, गीताप्रेस गोरखपुर.

25. "श्रीमद्भगवद्गीता"- विच मधुसूदन कमेण्ट्री काशी संस्कृत ग्रंथमाला, चौखम्बा वाराणसी १९६२.

26. विष्णु पुराण- अंग्रेजी अनु० एन०एम० विल्सन, पुनर्मुद्रित १९७२.